

स्नेह भरी उँगली  
अनुपम मिश्र

थोड़ा बहुत लिखना-पढ़ना पिताजी से ही सीखा पर उन पर कभी कुछ लिखा नहीं। उन्हें गए आज 27 बरस हो रहे हैं, लेकिन उनके बारे में कभी 27 शब्द भी नहीं लिखे।

कारण कई थे। पहला तो वे खुद थे। कुछ के लिए वे जरूर 'गीतफरोश' रहे होंगे, पर हमारे लिए तो वे बस पिता थे। हर पिता पर उसके बेटे-बेटी कुछ लिखें - यह उन्हें पसंद नहीं था। कुल मिला कर हम सब के मन में भी यह बात ठीक उतर गई थी। मन्ना ने एकाध बार बहुत ही मजे-मजे में हमें बताया था कि कोई भी पिता अमर नहीं होता। पिता के मरते ही उसके बेटे-बेटी उनकी याद में कोई स्मारिका छाप बैठें, खुद लेख लिखें, दूसरों से लिखाते फिरें, उनकी स्मृति को स्थायी रूप देने हेतु उनके नाम से कोई संस्था, संगठन खड़ा कर दें - यह सब बिलकुल जरूरी नहीं होता। उनकी मृत्यु के बाद हमने इस बात को पूरी तरह निभाया, न खुद लिखा, न लिखवाया।

दूसरा कारण उनकी एक कविता थी - 'कलम अपनी साध, मन की बात बिलकुल ठीक कह एकाध।' तो मन की बात ठीक एकाध कभी सूझी नहीं। सूझी भी तो मन्ना की शर्त 'तेरी भर न हो' लागू करने के बाद कभी कुछ ऐसा बचता नहीं था लिखने लायक।

हम सब उन्हें मन्ना कहते थे। भाषा को बिगाड़ने का कुछ पाप जिन संबोधनों से लगता हो, वैसे संबोधन पिता के लिए तब प्रचलित नहीं हुए थे। लेकिन तब के नाम बाबूजी, पिताजी, बाबा आदि से भी हम और वे बच गए थे। खूब बड़े भरे-पूरे परिवार में मँझले भाई थे। पिताजी के बड़े भाई उन्हें प्यार से सिर्फ 'मँझले' कहते और फिर दादा-दादी से ले कर सभी छोटे बहन-भाई, यानी हमारे चाचा, बुआ आदि भी उन्हें आदर से 'मँझले भैया' ही कहने लगे थे। मुझसे बड़े दो भाई सन 1942 में जब पिताजी को पुकारने लायक उम्र में आ रहे थे कि वे जेल चले गए। जेल में लिखी उनकी कविता 'घर की याद' में इस भरे-पूरे परिवार का, उसके स्नेह का, आँखें गीली करने लायक वर्णन है। दो-तीन बरस बाद जब वे जेल से छूट कर लौटनेवाले थे, तब ये दोनों बेटे अपने पिता को किस नाम से पुकारेंगे - इस बारे में नरसिंहपुर (मध्य प्रदेश) के घर में बुआओं, चाचाओं में कुछ बहस चली थी। पर जब पिता सामने आ कर अचानक खड़े हुए, संबोधन कूद के पार कर लिए थे और सहज ही 'मँझले भैया' कह कर उनकी तरफ दौड़ पड़े थे। दोनों बच्चों को कुछ सलाह, निर्देश भी दिए गए थे। बेटों के लिए भी वे 'मँझले भैया' बने रहे।

फिर जन्म हुआ मुझसे बड़ी बहन नंदिता का। जीजी से 'मँझले भैया' कहते बना नहीं, उनने उसे अपनी सुविधा के लिए 'मन्ने भैया' किया। फिर मन्ने भैया और थोड़ा घिस कर चमकते-चमकते 'मन्ने' और अंत में 'मन्ना' हो

गया। जब मेरा जन्म 1948 में वर्धा में हुआ तब तक पिताजी जगत मन्ना बन चुके थे - सिर्फ हमारे ही नहीं, आस-पड़ोस और बाहर के छोटे-से लेकिन आत्मीय जगत के।

बचपन की यादें कोई खास नहीं। शायद घटनाएँ भी खास नहीं रही होंगी - उस दौर में एक साधारण पिता के जो संबंध साधारण तौर पर अपने बच्चों से रहते हैं, ठीक वैसे ही संबंध हमारे परिवार में रहे होंगे।

मेरे जन्म के बाद हम सब वर्धा से हैदराबाद आ गए थे। वे दिन हमारे लिए यह सब जानने-समझने के थे नहीं कि मन्ना कहाँ क्या काम करते हैं। पर एक बार वे घर से कुछ ज्यादा दिनों के लिए बाहर कहीं चले गए थे। तब शायद मैं पहली कक्षा में पढ़ता था। वे तब मद्रास गए थे। लौटे तो उनके साथ एक सुंदर चमकीला चाकू आया था। मन्ना को सब्जी काटने का खूब शौक था। सब्जी खरीदने का भी यह शौक कभी-कभी अम्मा की परेशानी में बदल जाता। ढेर के ढेर उठा लाते क्योंकि बेचनेवाली का बच्चा छोटा था, वह सब कुछ बेच जल्दी घर लौट सकती थी। बचपन में हम ने उन्हें न तो कविता लिखते देखा, न पढ़ते-सुनाते। मद्रास के उस स्टील के चाकू से खूब मजा ले कर सब्जी काटते थे - इसकी हमें याद बराबर है।

यह दौर था जब वे मद्रास में ए.वी.एम. फिल्म कंपनी के लिए कुछ गीत और संवाद लिखने गए थे। सब्जी खरीदने में बहुत ही प्रेम से भाव-ताव करनेवाले मन्ना ए.वी.एम. के मालिक चेट्टियार साहब से अपने गीत बेचते समय कोई भाव-ताव नहीं कर पाए थे। गीत बेचने की इस उतावली में उनका लक्ष्य पैसा कमाना नहीं बल्कि कुछ पैसा जुटा लेना भर था। बड़े परिवार में दो-तीन बुआओं का विवाह करना था। रजतपट के उस प्रसंग में उन पर कुछ कीचड़ भी उछला होगा। उसी दौर में उन्होंने 'गीतफरोश' कविता लिखी थी। हमने तब घर में रजतपट के चमकीले किस्से कभी सुने नहीं। किस्से सुने ए.वी.एम. के होटल के जहाँ रोज इतनी सब्जी कटती थी कि अच्छे से अच्छे चाकू कुछ ही दिनों में घिस जाते थे, फिर फिंका जाते थे। रजतपट की सारी चमक हमारे घर में इसी चाकू में समा कर आई थी मद्रास से।

चेट्टियार साहब से किसी विवाद के बाद वे गीत बेचने की दुकान बड़ा कर घर लौट आए। 'गीतफरोश' में किसिम-किसिम के गीतों में एक गीत 'दुकान से घर जाने' का भी है। शायद जब वे तरह-तरह के गीत बेच रहे थे, तब उनके मन में घर आने का गीत 'ग्राहक' की मर्जी से बँधा नहीं था।

ए.वी.एम. की वे फिल्में, जिनमें मन्ना ने गीत और संवाद लिखे थे, डिब्बे में बंद नहीं हुईं। वे हैदराबाद के सिनेमाघरों में भी आई होंगी, पर मन्ना ने उन्हें अपनी उपलब्धि नहीं माना। हम लोगों को, अम्मा को सजधज कर उन्हें दिखा लाने का कभी प्रस्ताव नहीं रखा। शायद उनके लिए ये गीत 'मरण' के थे, फिल्मी दुनिया में मरने के नहीं, मरने के गीत थे।

साहित्य में रुचि रखनेवालों के लिए मन्ना का वह दौर प्रसिद्ध साहित्यिक पत्रिका 'कल्पना' का दौर था। पर हम बच्चों की कल्पना कुछ और ही थी। घर में कभी शराब नहीं आई पर हैदराबाद में हम शराब के ही घर में, मुहल्ले में रहते थे। मुहल्ले का नाम था, टकेरवाड़ी। चारों तरफ अवैध शराब बनती थी। उसे चुआने की बड़ी-बड़ी नादें यहाँ-वहाँ रखी रहती थीं। यों हमारे मकान मालिक जिन्हें हम बच्चे शीतल भैया मानते थे, खुद इस धंधे से एकदम अलग थे पर चारों तरफ इसी धंधे में लगे लोग छापा पड़ने के डर से कभी-कभी कुछ सामान, नाद आदि हमारे घर

के पिछवाड़े में पटक जाते। चार-पाँच बरस के हम भाई-बहनों की क्या ऊँचाई रही होगी तब। हम इन नादों में छिपकर तब की ताजा कहानी 'अली बाबा और चालीस चोर' का नाटक खेल डालते थे।

कभी-कभी मन्ना हमें बदरी चाचा (श्री बदरीविशाल पित्ती) के घर ले जाते। घर क्या, विशाल महल था। शतरंज के दो बिल्ले के बोर्ड पर सफेद-काले रंग का जो सुंदर मेल हमने कभी अपने घर में देखा, वह यहाँ बदरी चाचा के पूरे घर में, आँगन में, कमरों के फर्श में सभी जगह पूरी भव्यता से फैला मिलता। बदरी चाचा के घर ऐसे मौकों पर बड़े-बड़े लोग जुटते थे, पर हम उन सबको उस रूप में पहचानते नहीं थे। बदरी चाचा सचमुच विशाल थे हम सब के लिए। कभी-कभी वे हम सब को हैदराबाद से थोड़ी दूर बसे शिवरामपल्ली गाँव ले जाते। वहाँ तब विनोबा का भूदान आंदोलन शुरू हुआ था। बदरी चाचा अच्छे फोटोग्राफर भी थे। उस दौर में उनके द्वारा खींचे गए चित्र आज भी हमारे मन पर ज्यों के त्यों अंकित हैं - कागजवाले प्रिंट जरूर कुछ पीले-भूरे और धुँधले पड़ गए हैं।

मन्ना कविता लिखते थे, पढ़ने भी लगे थे, शायद रेडियो पर भी। लेकिन हमें घर में कभी इसकी जानकारी मिली हो - ऐसा याद नहीं आता। तब तक घर में रेडियो नहीं आया था। हैदराबाद रेडियो स्टेशन से हर इतवार सुबह बच्चों का एक कार्यक्रम प्रसारित होता था। हम एकाध बार वहाँ मन्ना के साथ गए थे। ऐसे ही किसी इतवार को नन्दी जीजी ने लकड़हारे की कहानी माइक के सामने सुना दी थी। जिस दिन उसे प्रसारित होना था, उसके एक दिन पहले मन्ना एक रेडियो खरीद लाए थे। रेडियो सेट मन्ना की कविता के लिए नहीं, जीजी की कहानी सुनाने के लिए घर में आया था - इसे आज रेडियो में ही काम करनेवाली नंदिता मिश्र भूली नहीं हैं।

हैदराबाद से मन्ना आकाशवाणी के बंबई केंद्र में आ गए थे। तब मैं तीसरी कक्षा में भर्ती किया गया था। उस स्कूल में हमें दूसरों से, अध्यापकों के व्यवहार से पता चला था कि हमारे पिताजी को घर से बाहर के लोग भी जानते हैं। क्यों जानते हैं? क्योंकि वे कविताएँ लिखते हैं। हमारे मन्ना कवि हैं!

कवि कालदर्शी होता है? हमें नहीं मालूम था। कल क्या होगा बच्चों का, उनकी पढ़ाई-लिखाई कैसी करनी है - बहुत ही बड़े माने गए ऐसे प्रश्न हमारे कवि पिता ने कभी सोचे नहीं होंगे। जब एक शाम मैं और नन्दी स्कूल से घर लौटे थे तो मन्ना ने हमें बताया कि अगले दिन हम सब बंबई से बेमेतरा जाएँगे। बड़े भैया के पास। मन्ना के बड़े भैया मध्य प्रदेश के दुर्ग जिले की एक छोटी-सी तहसील बेमेतरा में तब तहसीलदार थे। हम सब बेमेतरा जा पहुँचे। दो-चार दिन बाद पता चला कि मन्ना और अम्मा वापस बंबई लौट रहे हैं और अब हम यहीं बेमेतरा में बड़े भैया के पास रह कर पढ़ेंगे। हैदराबाद में एक बार सीढ़ियों से गिरने पर काफी चोट लगने से मैं खूब रोया था। तब के बाद अब की याद है - बेमेतरा में खूब रोया, उनके साथ वापस बंबई लौटने को। आँखें तो उनकी भी गीली हुई थीं पर हम वहीं रह गए, मन्ना-अम्मा लौट गए। ताऊजी यानी बड़े भैया का प्यार मन्ना से बड़ा ही निकाला। यह तो हमें बहुत बाद में पता चला कि बड़े पिताजी के छह में से पाँच बेटे बड़े हो कर कॉलेज हॉस्टल आदि में चले गए थे और उन्हें अपना घर सूना लगने लगा था, इसलिए उस सूने घर में रौनक लाने के लिए मँझले भाई मन्ना ने हम दोनों को उन्हें सौंप दिया था।

बंबई से मन्ना दिल्ली आकाशवाणी आ गए। तब हम भी एक गर्मी में बेमेतरा से शायद चौथी-पाँचवीं की पढ़ाई पूरी कर दिल्ली बुला लिए गए। हैदराबाद, बंबई की यादें धुँधली-सी ही थीं। बेमेतरा छोटा कस्बा था और बड़े भैया सरकार के बड़े अधिकारी थे, इसलिए बाजार आना-जाना, खरीददारी, डबलरोटी - ऐसे विचित्र अनुभवों से हम गुजरे नहीं थे। दिल्ली आने पर मन्ना के साथ घूमने, खुद चीजें खरीदने के अनुभव भी जुड़े। एक साधारण, ठीक

माने गए स्कूल रामजस में उन्होंने मुझे भरती किया। सातवीं-आठवीं-नौवीं में विज्ञान में नंबर थे। इसी बीच उन्हें सरकारी मकान किसी और मुहल्ले में मिल गया। शुभचिंतकों के समझाने पर भी मन्ना ने मेरा स्कूल फिर बदल दिया - नए मुहल्ले सरोजनी नगर में टेंट में चलनेवाले एक छोटे-से सरकारी स्कूल में। यह घर के ठीक पीछे था। पैदल दूरी। 'बच्चा नाहक दिल्ली की ठंड-गर्मी में आठ-दस मील दूर के स्कूल में बसों में भागता फिरे' यह उन्हें पसंद नहीं था। यहाँ विज्ञान भी नहीं था। मैं कला की कक्षा में बैठा। मुझे खुद भी तब पता नहीं था कि विज्ञान मिलने न मिलने से जीवन में क्या खोते हैं - पाते हैं। यहीं नौवीं में हिन्दी पढ़ाते समय जब किसी एक सहपाठी ने हमारे हिन्दी के शिक्षक को बताया कि मैं भवानी प्रसाद मिश्र का बेटा हूँ तो उन्होंने उसे 'झूठ बोलते हो' कह दिया था। बाद में उनसे मुझसे भी लगभग उसी तेज आवाज में पिता का नाम पूछा था। घर का पता पूछा था, फिर किसी शाम वे घर भी आए। अपनी कविताएँ भी मन्ना को सुनाईं। मन्ना ने भी कुछ सुनाया था। उस टेंटवाले स्कूल में ऐसे कवि का बेटा? मन्ना की प्रसिद्धि हमें इन्हीं मापदण्डों, प्रसंगों से जानने मिली थीं।

श्री मोहनलाल वाजपेयी यानी लालजी कक्कू मन्ना के पुराने मित्र थे। मन्ना ने उनके नाम एक पूरी पत्रनुमा कविता लिखी भी। बड़ा भव्य व्यक्तित्व। शांति निकेतन में हिन्दी पढ़ाते थे। शायद सन 1957 में वे रोम विश्वविद्यालय में हिन्दी विभाग की स्थापना करने बुलाए गए थे। वहाँ से जब वे दिल्ली आए, एक बार तो एक बहुत ही सुंदर छोटा-सा टेपरिकॉर्डर लाए थे मन्ना के लिए। नाम था जैलेसी। जैली यानी ईर्ष्या। उसमें छोटे स्पूल लगते थे। उन दिनों कैसेटवाले टेप चले नहीं थे। शहर का न सही, शायद मुहल्ले का तो यह पहला टेपरिकॉर्डर रहा ही होगा! इसका हमारे मन पर बहुत गहरा असर पड़ा था। विज्ञान के आगे मैंने तो माथा ही टेक दिया था। क्या गजब की मशीन थी। हर किसी की आवाज कैद कर ले, फिर उसे ज्यों का त्यों वापस सुना दे! शायद लालजी कक्कू ने यह यंत्र इसलिए दिया था कि मन्ना इस पर कभी-कभी अपना काव्य पाठ रिकार्ड करेंगे। पर वैसा कभी हो नहीं पाया। एक तो ऐसे यंत्र चलाने में उनकी दिलचस्पी नहीं थी, और फिर अपनी कविता खुद बटन दबा कर रिकार्ड करना, उसे खुद सुनना, दूसरों को सुनाना - उन्हें पसंद नहीं था। बाद में हमारे एक बड़े भाई बंबई से वास्तुशास्त्र पढ़ कर जब दिल्ली आए तो जैलेसी पर मुकेश, किशोर कुमार और लता के गाने जरूर जम गए थे। आज भी हमारे घर में मन्ना की एक भी कविता का पाठ रिकार्ड नहीं है। कभी-कभी नितांत अपरिचित परिवार में परिचय होने के बाद सन्नाटा, गीतफरोश, घर की याद, सतपुड़ा के घने जंगल आदि कविताओं के पाठ की रिकार्डिंग हमें सुनने मिल जाती हैं। ये कविताएँ उन शहरों में मन्ना ने पढ़ी होंगी। वहीं वे रिकार्ड कर ली गईं। हमें ऐसे मौकों पर लालजी कक्कू के जैलेसी की याद जरूर आ जाती है, पर ईर्ष्या नहीं होती।

कविकर्म जैसे शब्दों से हम घर में कभी कहीं टकराए नहीं। मन्ना कब कहाँ बैठ कर कविता लिख लेंगे - यह तय नहीं था। अक्सर अपने बिस्तरे पर, किसी भी कुर्सी पर एक तख्ती के सहारे उन्होंने साधारण से साधारण चिट्ठों पर, पीठ कोरे (एक तरफ छपे) कागजों पर कविताएँ लिखीं थीं। उनके मित्र और कुछ रिश्तेदार उन्हें हर वर्ष नए साल पर सुंदर, महँगी डायरी भी भेंट करते थे। पर प्रायः उनके दो-चार पन्ने भर कर वे उन्हें कहीं रख बैठते थे। बाद में उनमें कविताओं के बदले दूध का, सब्जी का हिसाब भी दर्ज हो जाता, कविता छूट जाती। भेंट मिले कविता संग्रह उन्हें खाली नई डायरी से शायद ज्यादा खींचते थे। हमें थोड़ा अटपटा भी लगता था पर उनकी कई कविताएँ दूसरों के कविता संग्रहों के पन्नों की खाली जगह पर मिलती थीं। पीठ कोरे पन्नों से मन्ना का मोह इतना था कि कभी बाजार से कागज खरीद कर घर में आया हो - इसकी हमें याद नहीं। फिर यह हम सब ने भी सीख लिया था। आज भी हमारे घर में कोरा कागज नहीं आता।

परिचित-अपरिचित, पाठक, श्रोता, रिश्तेदार - उनकी दुनिया बड़ी थी। इस दुनिया से वे छोटे-से पोस्टकार्ड से जुड़े रहते। पत्र आते ही उसका उत्तर देते। कार्ड पूरा होते ही उसे डाक के डिब्बे में डल जाना चाहिए। हम आसपास नहीं होते तो वे खुद उसे डालने चल देते। फोन घर में बहुत ही बाद में आया। शायद सन 1968 में। इन्हीं पोस्टकार्डों पर वे संपादकों को कविताएँ तक भेज देते।

बचपन से ले कर बड़े होने तक मन्ना को किसी से भी अंग्रेजी में बात करते नहीं देखा, सुना। जबलपुर में शायद किसी अंग्रेज प्रिंसिपलवाले तब के प्रसिद्ध कालेज राबर्टसन से उन्होंने बी.ए. किया था। फिर आगे पढ़े नहीं। लेकिन अंग्रेजी खूब अच्छी थी। घर में अंग्रेजी साहित्य, अंग्रेजी कविताओं की पुस्तकें भी उनके छोटे-से संग्रह में मिल जाती थीं। पर अंग्रेजी का उपयोग हमें याद नहीं आता। बस एक बार संपूर्ण गांधी वाङ्मय के मुख्य संपादक किसी प्रसंग में घर आए। वे दक्षिण के थे और हिन्दी बिलकुल नहीं आती थी उन्हें। मन्ना उनसे काफी देर तक अंग्रेजी में बात कर रहे थे - हमारे लिए यह बिलकुल नया अनुभव था। दस्तखत, खत-किताबत सब कुछ बिना किसी नारेबाजी के, आंदोलन के - उनका हिन्दी में ही था और हम सब पर इसका खूब असर पड़ा। घर में, परिवार में प्रायः बुंदेलखंडी और बाहर हिन्दी - हमें भी इसके अलावा कभी कुछ सूझा भी नहीं। हमने कभी कहीं भी हचक कर, उचक कर अंग्रेजी नहीं बोली, अंग्रेजी नहीं लिखी।

कोई भी पतन, गड़ढा इतना गहरा नहीं होता, जिसमें गिरे हुए को स्नेह की उँगुली से उठाया न जा सके - एक कविता में कुछ ऐसा ही मन्ना ने लिखा था। उन्हें क्रोध करते, कड़वी बात करते हमने सुना नहीं। हिन्दी साहित्य में मन्ना की कविता छोटी है कि बड़ी है, टिकेगी या पिटेगी, इसमें उन्हें बहुत फँसते हमने देखा नहीं। हां अंतिम वर्षों में कुछ वक्तव्य वगैरह लोग माँगने लगे थे। तब मन्ना इन वक्तव्यों में कहीं-कहीं कुछ कटु भी हुए थे। एक बार मैं चाय देने उनके कमरे में गया था तो सुना कि वे किसी से कह रहे थे, 'मूर्ति तो समाज में साहित्यकार की ही खड़ी होती है, आलोचक की नहीं!'

हम उनके स्नेह की उँगुली पकड़ कर पले-बढ़े थे। इसलिए ऐसे प्रसंग में हमें उन्हीं की सीख से खासी कड़वाहट दिखी थी। पर उन्हें एक दौर में गांधी का कवि तक तो ठीक, बनिए का कवि भी कहा गया तो ऐसे अप्रिय प्रसंग उनके संग जुड़ ही गए एकाध। फिर अपनी एक कविता में उन्होंने लिखा है कि 'दूध किसी का धोबी नहीं हैं। किसी की भी जिन्दगी दूध की धोई नहीं है। आदमकद कोई नहीं है।' कवि के नाते उनका कद क्या था - यह तो उनके पाठक, आलोचक ही जानें। हम बच्चों के लिए तो वे एक ठीक आदमकद पिता थे। उनकी स्नेह भरी उँगुली हमें आज भी गिरने से बचाती हैं।



[शीर्ष पर जाएँ](#)